

‘न्यायावतारवार्तिकवृत्ति’

सिधी जैन ग्रन्थमाला का प्रस्तुत ग्रन्थरत्न अनेक दृष्टि से महत्त्ववाला एवं उपयोगी है। इस ग्रन्थ में तीन कर्ताओं की कृतियाँ सम्मिलित हैं। सिद्धसेन दिवाकर जो जैन तर्कशास्त्र के आद्य प्रणेता हैं उनकी ‘न्यायावतार’ छोटी-सी पद्यबद्ध कृति इस ग्रन्थ का मूल आधार है। शान्त्याचार्य के पद्यबद्ध वार्तिक और गद्यमय वृत्ति ये दोनों ‘न्यायावतार’ की व्याख्याएँ हैं। मूल तथा व्याख्या में आये हुए मन्तव्यों में से अनेक महत्त्वपूर्ण मन्तव्यों को लेकर उन पर ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक दृष्टि से लिखे हुए सारगर्भित तथा बहुश्रुतापूर्ण टिप्पण, अतिविस्तृत प्रस्तावना और अन्त के तेरह परिशिष्ट—यह सब प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक श्रीयुत पंडित मालवणिया की कृति है। इन तीनों कृतियों का संक्षिप्त परिचय, विषयानुक्रम एवं प्रस्तावना के द्वारा अच्छी तरह हो जाता है। अतएव इस बारे में यहाँ अधिक लिखना अनावश्यक है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के संपादन की विशिष्टता

यदि समभाव और विवेक की मर्यादा का अतिक्रमण न हो तो किसी अतिपरिचित व्यक्ति के विषय में लिखते समय पक्षपात एवं अनौचित्य दोष से बचना बहुत सरल है। श्रीयुत दलसुखभाई मालवणिया भेरे विद्यार्थी, सहसम्पादक, सहाध्यापक और मित्ररूप से चिरपरिचित हैं। इन्होंने इस ग्रन्थ के सम्पादन का भार जब से हाथ में लिया तब से इसकी पूर्णाहुति तक का मैं निकट साक्षी हूँ। इन्होंने टिप्पण, प्रस्तावना आदि जो कुछ भी लिखा है उसको मैं पहले ही से यथामति देखता तथा उस पर विचार करता आया हूँ, इससे मैं यह तो निःसंकोच कह सकता हूँ कि भारतीय दर्शनशास्त्र के—खासकर प्रमाणशास्त्र के—अभ्यासियों के लिए श्रीयुत मालवणिया ने अपनी कृति में जो सामग्री संचित व व्यवस्थित की है तथा विश्लेषणपूर्वक उस पर जो अपना विचार प्रगट किया है, वह सब अन्यत्र किसी एक जगह दुर्लभ ही नहीं अलभ्य-प्राय है। यद्यपि टिप्पण, प्रस्तावना आदि सब कुछ जैन परम्परा को केन्द्रस्थान में रखकर लिखा गया है, तथापि सभी संभव स्थलों में तुलना करते समय, करीब-करीब समग्र भारतीय दर्शनों का तटस्थ अवलोकनपूर्वक ऐसा ऊहापोह किया है कि वह चर्चा किसी भी दर्शन के अभ्यासी के लिए लाभप्रद सिद्ध हो सके।

प्रस्तुत ग्रन्थ के छुपते समय टिप्पण, प्रस्तावना आदि के फार्म (Forms) कई भिन्न-भिन्न दर्शन के पंडित एवं प्रोफेसर पढ़ने के लिए ले गए, और उन्होंने पढ़कर बिना ही पूछे, एकमत से जो अभिप्राय प्रकट किया है वह मेरे उपर्युक्त कथन का नितान्त समर्थक है। मैं भारतीय प्रमाणशास्त्र के अध्यापक, पंडित एवं प्रोफेसरो से इतना ही कहना आवश्यक समझता हूँ कि वे यदि प्रस्तुत टिप्पण, प्रस्तावना व परिशिष्ट ध्यानपूर्वक पढ़ जायेंगे तो उन्हें अपने अध्यापन, लेखन आदि कार्य में बहुमूल्य मदद मिलेगी। मेरी राय में कम से कम जैन प्रमाणशास्त्र के उच्च अभ्यासियों के लिए, टिप्पणों का अमुक भाग तथा प्रस्तावना पाठ्य ग्रन्थ में सर्वथा रखने योग्य है; जिससे कि ज्ञान की सीमा, एवं दृष्टिकोण विशाल बन सके और दर्शन के मुख्यप्राण असंप्रदायिक भाव का विकास हो सके।

टिप्पण और प्रस्तावनागत चर्चा, भिन्न-भिन्न कालखण्ड को लेकर की गई है। टिप्पणों में की गई चर्चा मुख्यतया विक्रम की पंचम शताब्दी से लेकर १७ वीं शताब्दी तक के दार्शनिक विचार का स्पर्श करती है; जबकि प्रस्तावना में की हुई चर्चा मुख्यतया लगभग विक्रमपूर्व सहस्राब्दी से लेकर विक्रम की पंचम शताब्दी तक के प्रमाण प्रमेय संबंधी दार्शनिक विचारसरणी के विकास का स्पर्श करती है। इस तरह प्रस्तुत ग्रन्थ में एक तरह से लगभग ढाई हजार वर्ष की दार्शनिक विचारधाराओं के विकास का व्यापक निरूपण है; जो एक तरफ से जैन-परम्परा को और दूसरी तरफ से समानकालीन या भिन्नकालीन जैनेतर परम्पराओं को व्याप्त करता है। इसमें जो तेरह परिशिष्ट हैं वे मूल व्याख्या या टिप्पण के प्रवेशद्वार या उनके अबसोक्तनार्थ नैत्रत्यानीय हैं। श्रियुत मालवणिया की कृति की विशेषता का संक्षेप में सूचन करना हो, तो इनकी बहुश्रुतता, तटस्थता और किसी भी प्रश्न के मूल के खोजने की ओर झुकनेवाली दार्शनिक दृष्टि की सतर्कता द्वारा किया जा सकता है। इसका मूल ग्रन्थकार दिशाकर की कृति के साथ विकासकालीन सामंजस्य है।

जैन ग्रन्थों के प्रकाशन संबंध में दो बातें

अनेक व्यक्तियों के तथा संस्थाओं के द्वारा, जैन परम्परा के छोटे-बड़े सभी फिरकों में प्राचीन अर्वाचीन ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य बहुत जोरों से होता देखा जाता है, परन्तु अधिकतर प्रकाशन सांप्रदायिक संकुचित भावना और स्वाग्रही मनोवृत्ति के द्योतक होते हैं। उनमें जितना ध्यान संकुचित, स्वमताविष्ट वृत्ति का रखा जाता है उतना जैनत्व के प्राणभूत समभाव व अनेकान्त दृष्टि-मूलक सत्यस्पर्शी अतएव निर्भय ज्ञानोपासना का नहीं रखा जाता। बहुधा यह

भूला दिया जाता है कि अनेकान्त के नाम से कहीं तक अनेकान्त दृष्टि की उपासना होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ के संपादक ने, जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, ऐसी कोई स्वाग्रही मनोवृत्ति से कहीं सोचने लिखने का जान-बूझकर प्रयत्न नहीं किया है। यह ध्येय 'सिंधी जैन ग्रन्थमाला' के संपादक और प्रधान संपादक की मनोवृत्ति के बहुत अनुरूप है और वर्तमानयुगीन व्यापक ज्ञान खोज की दिशा का ही एक विशिष्ट संकेत है।

मैं यहाँ पर एक कटुक सत्य का निर्देश कर देने की अपनी नैतिक जवाबदेही समझता हूँ। जैनधर्म के प्रभावक माने मनाए जानेवाले ज्ञानोपासनामूलक साहित्य प्रकाशन जैसे पवित्र कार्य में भी प्रतिष्ठालोलुपतामूलक चौर्यवृत्ति का दुष्कलंक कभी-कभी देखा जाता है। सांसारिक कामों में चौर्यवृत्ति का बचाव अनेक लोग अनेक तरह से कर लेते हैं, पर धर्माभिमुख ज्ञान के क्षेत्र में उसका बचाव किसी भी तरह क्षन्तव्य नहीं है। यह ठीक है कि प्राचीन काल में भी ज्ञान चोरी होती थी जिसके द्योतक 'वैयाकरणश्चौरः' 'कविश्चौरः' जैसे वाक्योद्धरण हमारे साहित्य में आज भी मिलते हैं; परन्तु सत्यलक्ष्मी दर्शन और धर्म का दावा करने वाले पहले और आज भी इस वृत्ति से अपने विचार व लेखन को दूषित होने नहीं देते और ऐसी चौर्यवृत्ति को अन्य चोरी की तरह पूर्णतया धृष्टित समझते हैं। पाठक देखेंगे कि प्रस्तुत ग्रन्थ के संपादक ने ऐसी धृष्टित वृत्ति से नख-शिख बचने का समान प्रयत्न किया है। टिप्पण हों या प्रस्तावना—जहाँ-जहाँ नए पुराने ग्रन्थकारों एवं लेखकों से थोड़ा भी अंश लिया हो वहाँ उन सब का या उनके ग्रन्थों का स्पष्ट नाम निर्देश किया गया है। संपादक ने अनेकों के पूर्व प्रयत्न का अवश्य उपयोग किया है और उससे अनेक गुण लाभ भी उठाया है पर कहीं भी अन्य के प्रयत्न के यश को अपना बनाने की प्रकट या अप्रकट चेष्टा नहीं की है। मेरी दृष्टि में सच्चे संपादक की प्रतिष्ठा का यह एक मुख्य आधार है जो दूसरी अनेक दृष्टियों को भी क्षन्तव्य बना देता है।

मेरी तरह पं० दलसुख मालवणिया की भी मातृभाषा गुजराती है। ग्रन्थरूप में हिन्दी में इतना विस्तृत लिखने का इनका शायद यह प्रथम ही प्रयत्न है। इसलिए कोई ऐसी आशा तो नहीं रख सकता कि मातृभाषा जैसी इनकी हिन्दी भाषा हो; परन्तु राष्ट्रीय भाषा का पद हिन्दी को इसलिए मिला है कि वह हर एक प्रान्त वाले के लिए अपने-अपने ढंग से सुगम हो जाती है। प्रस्तुत हिन्दी लेखन कोई साहित्यिक लेखरूप नहीं है। इसमें तो दार्शनिक विचारविवेक ही मुख्य है। जो दर्शन के और प्रमाणशास्त्र के जिज्ञासु एवं अधिकारी हैं उन्हीं के उपयोग की प्रस्तुत कृति है। वैसे जिज्ञासु और अधिकारी के लिए भाषातत्त्व

गौण है और विचारतत्त्व ही मुख्य है। इस दृष्टि से देखें तो कहना होगा कि मातृभाषा न होते हुए भी राष्ट्रीय भाषा में संपादक ने जो सामग्री रखी है वह राष्ट्रीय भाषा के नाते व्यापक उपयोग की वस्तु बन गई है।

जैन प्रमाणशास्त्र का नई दृष्टि से सांगोपांग अध्ययन करनेवाले के लिए इसके पहले भी कई महत्त्व के प्रकाशन हुए हैं जिनमें 'सन्मतितर्क', 'प्रमाण-मीमांसा', 'ज्ञानविदु', 'अकलंकग्रन्थत्रय', 'न्यायकुमुदचन्द्र' आदि मुख्य हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ उन्हीं ग्रन्थों के अनुसंधान में पढ़ा जाय तो भारतीय प्रमाणशास्त्रों में जैन प्रमाणशास्त्र का क्या स्थान है इसका ज्ञान भलीभाँति हो सकता है, और साथ ही जैनैतर अनेक परम्पराओं के दार्शनिक मन्तव्यों का रहस्य भी स्फुट हो सकता है।

सिंधी जैन ग्रन्थमाला का कार्यवैशिष्ट्य

सिंधी जैन ग्रन्थमाला के स्थापक स्व० बाबू बहादुर सिंहजी स्वयं श्रद्धाशील जैन थे पर उनका दृष्टिकोण साम्प्रदायिक न होकर उदार व सत्यलक्षी था। बाबूजी के दृष्टिकोण को विशद और मूर्तिमान् बनानेवाले ग्रन्थमाला के मुख्य संपादक हैं। आचार्य श्रीजिनविजयजी की विविध विद्योपासना पन्थ की संकुचित मनोवृत्ति से सर्वथा मुक्त है। जिन्होंने ग्रन्थमाला के अभी तक के प्रकाशनों को देखा होगा, उन्हें मेरे कथन की यथार्थता में शायद ही संदेह होगा। ग्रन्थमाला की प्राणप्रतिष्ठा ऐसी ही भावना में है जिसका असर ग्रन्थमाला के हरएक संपादक की मनोवृत्ति पर जाने अनजाने पड़ता है। जो-जो संपादक विचारस्वातन्त्र्य एवं निर्भयसत्य के उपासक होते हैं उन्हें अपने विन्तन लेखन कार्य में ग्रन्थमाला की उक्त भूमिका बहुत कुछ सुअवसर प्रदान करती है और सृष्ट ही ग्रन्थमाला भी ऐसे सत्यान्वेषी संपादकों के सहकार से उत्तरोत्तर ओजस्वी एवं समधानुरूप बनती जाती है। इसी की विशेष प्रतीति प्रस्तुत कृति भी करानेवाली सिद्ध होगी।

ई० १९४६]

[न्यायावतार वार्तिक वृत्ति का 'आदि वाक्य'

